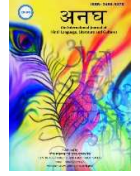




## अनघ (An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



# हिन्दी सिनेमा में चित्रित स्त्री छवि: विशेष संदर्भ इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का सिनेमा

डॉ सुरज कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, भाषा एवं मानविकी संकाय,

कर्नाटक केंद्रीय विश्वविद्यालय, कल्बुर्गी, कर्नाटक 585367

surajhilsayan@gmail.com

**शोध-सार** - राजा हरिश्चंद्र से लेकर पैंक तक हिंदी सिनेमा का सफ़र स्त्री निरूपण की दृष्टि से खासा उतार-चढ़ाव भरा रहा है। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में जहाँ स्त्रियों के सिनेमा में काम करने को ही निकृष्टतम माना जाता था। तीस के दशक में देविका रानी, फातिमा बेगम, दुर्गा खोटे, निडर नाडिया के कारण स्थिति थोड़ी बदली वहीं चालीस के दशक में स्टूडियो व्यवस्था के आने पर लाभ की तरफ झुकाव अधिक होने से मनोरंजन सर्वोपरि हो गया और स्त्री मनोरंजन की एक वस्तु बन कर रह गयी। शताब्दी के उत्तरार्ध में देश को आज़ादी मिली। संवैधानिक प्रणाली के अंतर्गत स्त्रियों को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है जबकि धरातल पर स्थिति कुछ और ही थी। विमल राय, ख्वाजा अहमद अब्बास, गुरु दत्त को छोड़ दें तो अन्य फ़िल्में उनका महिमा मंडन तो करती हैं लेकिन स्त्री की वास्तविक आज़ादी पर चुप्पी लगा जाती हैं। देश की आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी भारतीय समाज को समतामूलक बनाने में हमारी प्रगति बहुत धीमी है। विशेषकर इक्कीसवीं सदी को लेकर आम अपेक्षा यही थी की चीज़ें बदलेगीं लेकिन जब तक लैंगिक समानता और न्याय के बुनियादी प्रश्न को सुलझाया नहीं जायेगा ये समस्या यूँ ही बनी रहेगी। कहीं न कहीं हमारी सामाजिक व्यवस्था और हमारा नजरिया ही इसके लिए ऐसी स्थिति का जिम्मेदार है। इक्कीसवीं सदी में विज्ञान और तकनीकी में भले ही तरक्की हो गयी हो, लेकिन मानसिक रूप से आज भी हम अतीतजीवी ही हैं। यह अकारण नहीं है की आज भी हमारे सारे व्रत महिलाओं के लिए ही हैं। कुछ अपवाद छोड़ दें तो आज भी हिन्दी सिनेमा इन रूढ़ियों को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। निश्चित रूप से आज महिला पहले की तुलना में अधिक कामयाब और सक्षम बनकर उभरी है, लेकिन आज भी समाज उससे सामाजिक मर्यादा में बंधे रहने की अपेक्षा ही रखता है। वह भले ही आर्थिक रूप से कामयाब भी हुई हो लेकिन आज भी वो घर की अन्नपूर्णा ही है। दरअसल कुछ ही फिल्मों और तों के प्रति पारंपरिक नजरिए को तोड़ पायी हैं। कामकाजी स्त्री की मूल समस्या पर शायद ही कोई फिल्म कुछ चित्रित करते हुए दिखाई देती है। कामकाजी स्त्री केवल वही नहीं होती जो दफ्तर में काम करे बल्कि वह भी होती है घर को संभालती है। लेकिन हिन्दी फिल्मों में 'कामकाजी माँ' 'कामकाजी पिता' की छाया भर है; पूरक होने का तो सवाल ही नहीं उठता। आर्थिक और वैज्ञानिक तरक्की के कारण देश में शहरी स्त्रियों की जिंदगी में तो बदलाव आया भी है लेकिन ग्रामीण परिवेश में स्थिति जस की तस है। हिन्दी सिनेमा शायद ही कभी इसकी बात करता हो। प्रस्तुत शोध पत्र स्त्रियों की विभिन्न स्थितियों को परख कर इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक के सिनेमा में उसकी छवि को विश्लेषित करने का प्रयास होगा।

### प्रस्तावना

सिमोन द बुआ की बड़ी ही प्रसिद्ध उक्ति है 'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है'। 1949 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' ने पारंपरिक समाज के कृत्रिम मिथकों को चुनौती दी। यह एक दस्तावेज़ है, दृष्टि है जो प्रश्न करता है हमारे समाज के 'मनु/ओं' से, कि समाज में स्त्रियों की जो स्थिति है, वैसी क्यों है / जैसी कि वो है / उसका जिम्मेदार कौन है ? जिसे हम समाज में

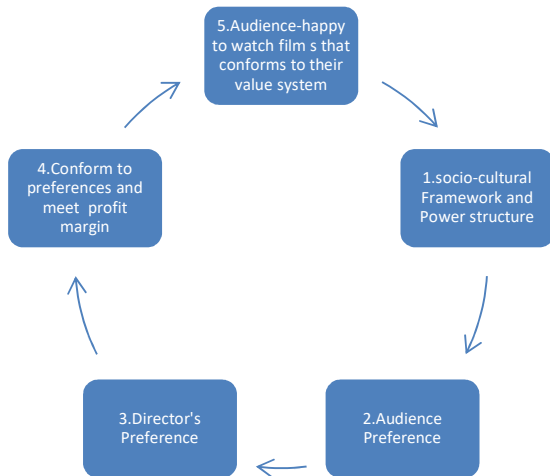
अच्छा - बुरा, पाप-पुण्य की संज्ञा देते हैं (विशेष कर स्त्री के संदर्भ में) उसका नियंता कौन है और भुक्तभोगी कौन है ? सामाजिक-धार्मिक नियम कानून गढ़ने वाले, साहित्य और कला आदि रचने वाले इस समाज में अधिसंख्य रूप में पुरुष ही रहे हैं। स्त्रियों की भूमिका हमेशा गौण और आज्ञा पालन करने वालों की रही है। हालांकि इसके कुछ अपवाद भी रहे हैं। समाज में, कला में, साहित्य में और सिनेमा में भी - हर जगह अगर स्त्री ऐसी ही है, तो क्यों है?

हिन्दी सिनेमा, जिसकी आयु महज सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुई है, में भी हमारी सामाजिक मान्यताओं और नजरिए का प्रतिफलन ही मिलता है। सिनेमा में यह स्थिति पर्दे के पीछे भी मिलती है और पर्दे के ऊपर भी। प्रस्तुत शोध आलेख में इन दोनों स्थितियों के विश्लेषण के माध्यम से हिन्दी सिनेमा में स्त्रियों की छवि को समझने का प्रयास किया जाएगा।

**पर्दे के पीछे** की बात करें तो इसके उदाहरण हिन्दी सिनेमा की शुरुआत से ही देखने को मिल जाते हैं। दादा साहब फालके को अपनी पहली फिल्म में कोई हीरोइन नहीं मिलती है क्योंकि सिनेमा को 'बुरी चीज' समझा जाता था। बाद में जब स्त्रियाँ फिल्मों में आयीं, तो या उन्हें उपभोग की वस्तु समझा गया या नियमों का पालन करने वाली गूंगी गुड़िया। कुछ अपवादों को छोड़ कर स्त्रियों की भूमिका अलंकरण या शोभा की वस्तु के रूप में ही नजर आती हैं (अपवादस्वरूप-देविका रानी, फातिमा बेगम, दुर्गा खोटे, निडर नाडिया की कुछ फिल्में)।

कहा जाता है कि हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री में **फिल्म निर्माण पर पुरुषों का वर्चस्व** है (पूजा भट्ट : "यह मर्दों की इंडस्ट्री है। वही फैसला करते हैं कि नायिका कैसी होगी"[1] निर्माता, निर्देशक (और कास्ट और क्रू की पूरी टीम) से लेकर वितरक तक अधिसंख्य रूप में पुरुष ही होते हैं। ऐसे में भूमिका से लेकर भुगतान तक में स्त्री हाशिये पर ही होती है या यों कहें- यहाँ भी वो पुरुषों के इशारे पर ही चलती है। जब तक वो आकर्षक होती हैं तभी तक वे इंडस्ट्री में कामयाब हैं। पुरुष सह अभिनेताओं की तुलना में उनके करियर की अवधि भी ख़ासी छोटी होती है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य **बॉक्स ऑफिस और दर्शक** हैं। भारतीय दर्शकों के बारे में सर्वविदित तथ्य यह है कि यहाँ अधिसंख्य दर्शक पुरुष/नवयुवक हैं। कहते हैं दर्शकों की मांग के कारण फिल्मकार ऐसी फिल्में बनाते हैं जिसमें नारी चरित्र का चित्रण विशिष्ट रूप में देखने को मिलता है। इसे निम्नलिखित दुष्क्रम से समझा जा सकता है :



हिन्दी फार्मूला सिनेमा में स्त्री चित्रण का दुष्क्रम [2]

इन सबके अतिरिक्त एक क्षीण धारा ऐसी भी है जो स्त्री का चित्रण स्वाभाविक रूप में करती है, उसकी समस्याओं को समझने का प्रयास करती है और स्त्री जीवन की संभावनाओं के बारे में सकारात्मक और कलात्मक ढंग से बात करती है। इस श्रेणी में सहानुभूति वाले पुरुष भी हैं और स्वानुभूति वाली स्त्रियाँ भी।

दूसरी ओर हिन्दी सिनेमा में पर्दे पर स्त्रियों के चित्रण को हम तीन रूपों में देख सकते हैं :

- I. स्त्री को एक भोग की वस्तु के रूप में
- II. पारंपरिक आदर्श नारी के रूप में
- III. बदलती तस्वीर

### I. स्त्री का एक भोग वस्तु के रूप में चित्रण उर्फ 'तू चीज़ बड़ी है मस्त-मस्त' का फार्मूला

हिन्दी सिनेमा में कमाई का आसान जरिया है आजमाए हुए फार्मूले को दुहराना। बॉलीवुड के अनेक फार्मूलों में से एक स्त्री को एक कामोद्दीपक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना।

#### कैबरे डांसर से आइटम गर्ल तक

प्रारम्भ में कुक्कू, हेलेन, बिन्दु, अरुणा ईरानी जैसी डांसिंग क्वीन कैबरे के लिए, डांस नंबर के लिए तयशुदा स्त्री पात्रा थीं। उनका काम ही था उद्दीपक नृत्य प्रस्तुत करना – 'मेरा नाम चिन चिन चूँ' से लेकर 'पिया तू अब तो आज' तक। लेकिन बाद में 'जुम्मा चुम्मा दे दे' और 'सेक्सी-सेक्सी मुझे लोग बोले' जैसे गानों के माध्यम से एक के बाद एक आइटम नंबर की होड़ लग गयी। इन गानों के बोल भी द्विअर्थी हैं और दृश्यांकन भी जान-बूझ कर उत्तेजक किया जाता है। अपने एक लेख में अमृता ठाकुर कहती हैं : "इन आइटम सॉन्ग में जितने ज्यादा लटके-झटके रहे और गीत के बोल जितने ज्यादा अश्लील रहे, उतने ही ज्यादा हिट रहे। शबाना आजमी का मानना है कि आज के दौर में आइटम सॉन्ग औरतों का वस्तुकरण कर रहा है" [3]। एक जमाना था जब अच्छे गीत-संगीत को फिल्म की सफलता के लिए जरूरी माना जाता रहा। आज आइटम नंबर ने वो जगह ले ली है। यही नहीं फिल्म की हीरोइन आज आइटम डांस तो करती ही हैं वहीं उनके रैन डांस भी उनसे कम नहीं हैं। 'एक लड़की भीगी-भागी' से लेकर 'टिप-टिप बरसा पानी' न जाने कितने गाने हैं जो स्त्री को 'ऑब्जेक्ट ऑफ डिजायर' / 'लालसा की वस्तु' के रूप में प्रस्तुत करता है। हिन्दी सिनेमा ही स्त्री को इस रूप में पेश करता हो ऐसी बात नहीं है बल्कि कमोवेश विश्व के सभी भाग के सिनेमा का यही हाल है। प्रसिद्ध नारीवादी फिल्म क्रिटिक लारा मुल्वे ने 1973 में लिखित अपने बहुचर्चित लेख 'Visual Pleasure and Narrative Cinema' में इन कारणों की पड़ताल करती हैं। सिनेमा एक सामूहिक माध्यम है निर्माण में भी और प्रदर्शन में भी। लेकिन जब अंधेरा होता है तब हर दर्शक चित्र की आभासी दुनिया

में अकेला उसका हिस्सा होता है। यहाँ वह उस फैंटेसी का हिस्सा होता है जिसे किसी ने अनायास नहीं सायास निर्मित किया है। जहाँ स्त्री को कामुक रूप में पर्दे पर दिखाया जाता है वहाँ वह अपने साथी कलाकार/रों के लालसा की वस्तु होती है वहीं कहीं न कहीं वह दर्शक/कों की भी फैंटेसी बन जाती है। लारा लिखती हैं: "The cinema offers a number of possible pleasures. One is scopophilia (pleasure in looking) ... traditionally, the women displayed has functioned in two levels: as Erotic object for the characters within the screen story, and as Erotic object for the spectator within the auditorium with a shifting tension between the looks on either side of screen. A women performs with in the narrative; the gaze of the spectators and that of the male characters in the film are neatly combined without breaking narrative verisimilitudes." [4] उपरोक्त कथन इस घटना की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है। इस घटना में इक्कीसवीं सदी में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। 2000 से 2010 की फिल्मों में कुछ उदाहरण लें तो जिस्म, ख्वाहिश(2003), धूम (2004), गरम मसाला (2005), निशब्द (2007), टशन (2008) जैसी फिल्में इसके उदाहरण हैं।

## II. पारंपरिक आदर्श नारी के रूप में उर्फ 'मेरा पति मेरा देवता है'

स्त्री को एक वस्तु के रूप में पेश करने के ठीक उलट एक छवि उसे देवी के रूप में चित्रित करने की रही है। वह नायक की माँ, बहन या प्रेमिका /पत्नी है, जो उसका लक्ष्य प्राप्त करने में सहायिका के रूप में है। वह आदर्श माँ, बहन या प्रेमिका/पत्नी है जिसके लिए 'स्व' सबसे बाद की चीज है। वह परिवार का (बच्चे, सास-ससुर) सबका खयाल रखती है। उसके लिए उसका पति देवता और उसकी दुनिया है। उसके बाहर उसका सोचना पाप है। फिल्म की कहानी मूल रूप से नायक पर आधारित होती है—यह उनके संघर्ष, उनके सपने, उनके बदले उनकी बहादुरी या उनके पुरुषत्व पर आधारित होती है। नायिका की भूमिका या तो उनके साथ गाना गाने की होती है या हीरो का साथ देने की होती है। 'मुहब्बतें', 'कहो न प्यार है', 'अजनबी', 'मुझसे शादी करोगी', 'नो एंट्री', 'कभी अलविदा न कहना', 'कभी खुशी कभी गम', 'वांटेड', 'रावण', 'रोबोट' जैसी फिल्में इस बात के उदाहरण हैं की नायिका की भूमिका नायक की मुख्य भूमिका के पूरक के रूप में है, उससे ज्यादा कुछ और नहीं।

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में ही 'कभी खुशी-कभी गम'(2001) फिल्म आती है। इस फिल्म के कुछ प्रसंगों से उपरोक्त बातों को समझा जा सकता है। यह फिल्म अपने साथ इक्कीसवीं सदी की नारी के आदर्श प्रतिमानों को एक नया चेहरा प्रदान करती है। अर्थात् इस आधुनिक सदी में भी नारी को परंपरागत रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। स्त्री पढ़ाई-लिखाई पुरुषों के साथ बैठ

कर कर सकती है लेकिन व्यवहार में उसे पुरुष द्वारा स्थापित किए गए मानदंडों का ही पालन करना होगा। तभी स्त्री को समाज में स्वीकार किया जाएगा अन्यथा नहीं। 'कभी खुशी-कभी गम' फिल्म के कुछ उदाहरण के माध्यम से यह बात आसानी से समझ सकते हैं। यशवर्धन(अमिताभ बच्चन) अपनी समझदार पत्नी नंदिनी(जया भादुड़ी) को हर कदम पर दबाता है और वह हमेशा पति की ऊंची आवाज के सामने अपनी जुबान सील लेती है। जब यशवर्धन, नंदिनी व उनकी माँ के बीच घर में बहू डूँड कर लाने की बात होती है तब नंदिनी कहती है की आजकल तो बच्चे खुद ही सब कुछ कर लेते हैं। नंदिनी समय के बदलने की बात करती है लेकिन यश का कहना है कि कुछ नहीं बदला, आज भी घर के बड़े ही घर की बहू डूँड सकते हैं। नंदिनी के द्वारा इस बात से असहमत होने पर वह जोर देकर अपनी आवाज के सामने नंदिनी की आवाज दबा देता है। आपसी बातचीत कुछ इस प्रकार है।

"माँ(यशवर्धन की माँ)- परंपरा तो अच्छी है कि घर के बड़े घर की बहू डूँड लाते हैं। वरना इन पागलों का क्या भरोसा?

इस पर नंदिनी कहती है:

नंदिनी- नहीं माताजी, वो तो तब की बात थी। आजकल तो सब कुछ बदल गया है।

यशवर्धन- कुछ नहीं बदला।

नंदिनी- जी, आजकल तो बच्चे खुद ही

यशवर्धन- कुछ नहीं बदला नंदिनी।

नंदिनी- मेरे कहने का मतलब...

यशवर्धन- कुछ नहीं बदला(जोर देते हुए)। कह दिया ना, बस" (फिल्म- कभी खुशी-कभी गम)[5]

यश के यह कहने का अभिप्राय कि 'कह दिया ना, बस' का अर्थ है कि इसके आगे इस विषय पर कोई बात नहीं हो सकती। उसका कहना पत्थर की लकीर है, जिसे कोई नहीं मिटा सकता। क्योंकि यश के दिमाग में वही परंपरागत मूल्य हावी है, जिसके तहत पुरुष घर का मुखिया है। वह घर का आर्थिक बोझ उठाता है। इसलिए घर के हर सदस्य को उसकी बात माननी चाहिए। दूसरी बात यह कि पत्नी के लिए वह उसका देवता है। और पत्नी को देवता स्वरूप ही उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। यहाँ नंदिनी पति के सामने चुप हो जाती है। क्योंकि कहीं न कहीं उसके दिमाग में भी परंपरागत मूल्य हावी हैं। हमारी परंपरा में पति देवता है। जब किसी को पति का दर्जा मिल जाता है तो उसके सामने देवता स्वरूप ही व्यवहार किया जाता है। देवता के सामने तर्क-वितर्क नहीं किया जाता। उसकी हर बात की पालना अंधे होकर की जाती है। चाहे उस बात से हम सहमत हो या न हों। नंदिनी भी वैसा ही कर रही है। वह घर में पूजा करती है। वह पूजा की थाली हाथ में लिए अपने पति की आरती उतारती है, पति के पैर छूती है, पति की की दीर्घ आयु के लिए करवा चौथ का व्रत रखती है आदि।

इस फिल्म की नायिका अंजलि(काजोल) भी भारतीय नारी के आदर्श रूप का ही पालन करती है। वह भी घर में पूजा करती करती है, आरती उतारती है, करवा-चौथ का व्रत रखती है। इसी फिल्म की दूसरी नायिका पूजा(करिश्मा कपूर) अमेरिका के प्रसिद्ध कॉलेज में पढ़ती है। वह छोटे-छोटे आधुनिक कपड़े पहनती है। इसके बावजूद जब वह हीरो से मिलती है तब उसके कपड़े भारतीय नारी की तरह हो जाते हैं, वह घर में आरती करती है, भगवान में आस्था दिखाती है जो कि भारतीय नारी होने का सबसे बड़ा गुण माना जाता है। पूजा का रोल यह दर्शाता है कि इक्कीसवीं सदी की हर भारतीय नारी कितनी भी आधुनिक क्यों न हो जाए लेकिन उसके अंदर भारतीय परंपरागत नारी ही जिंदा रहती है। प्रत्येक पढ़ी-लिखी इक्कीसवीं सदी की नारी को पूजा की तरह ही भारतीय संस्कारों का होना चाहिए।

इस प्रकार इक्कीसवीं सदी की नारी कितनी भी आधुनिक क्यों हो, कितनी भी पढ़ी लिखी क्यों न हो पितृसत्तात्मक समाज उसे तभी स्वीकार करेगा जब उसमें संस्कार भारतीय नारी के हों। अन्यथा उसे समाज द्वारा कुलटा घोषित कर दिया जाएगा। प्रसिद्ध अभिनेत्री शर्मिला टैगोर ने इस संदर्भ में अपने एक व्याख्यान 'Representation of women in Indian cinema and beyond' में बताती हैं : "पारंपरिक तौर पर एक राष्ट्र के तौर पर हमारा रुख औरत को देवी या पुरुष की संपत्ति के तौर पर देखने का रहा है , न कि उसके बराबर। औरत को देवी मानना बड़ा ही चतुर तरीका है, क्योंकि फिर उसे उच्च स्थान पर रहना पड़ता है और पितृसत्तात्मक समाज द्वारा उसके लिए बनाए गए उच्च आदर्शों के अनुसार अपना व्यवहार रखना होता है ।।।इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि सिनेमा, खासकर हिन्दी सिनेमा जैसे व्यापक, लोकप्रिय और अतिप्रत्यक्ष माध्यम ने भी इन सांस्कृतिक मिथकों को बनाए रखा है"।[6] हिन्दी सिनेमा में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मिल जाएंगे जिसमें 'कुराह' चलने वाली नायिकाओं को नायक वापस आदर्श नायिका में परिवर्तित कर देते हैं। 'पूरब और पश्चिम' में यही उपकार सायरा बानो पर मनोज कुमार करते हैं और 'लाइला' में यही उपकार श्रीदेवी पर अनिल कपूर करते हैं । 'विवाह' जैसी फिल्म में तो नायिका 'आदर्श नारी' के रूप में ही दर्शकों के सामने आती है। 'मुहब्बतें' भले ही प्यार की बात करता हो लेकिन वो लड़ाई दो नायकों और तीन युवाओं के जिद की है ।

### III. बदलती तस्वीर उर्फ दुनिया को ठेंगा दिखाने का हौसला

इक्कीसवीं सदी में पर्दे के पीछे और पर्दे पर, दोनों जगह स्थितियाँ पहले की तुलना में बदलीं हैं । अब फिल्म निर्माण में युवा निर्देशकों(स्त्री भी) की एक लंबी फेरहिस्त नजर आती है जो ज्यादा वास्तविक तरीके से स्त्री चित्रण का हौसला रखते हैं। पीवीआर और मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने बॉक्स ऑफिस के माईने बदल दिये हैं । नई पीढ़ी के पुरुष फिल्मकार भी स्त्री को सती सावित्री या वैष्प जैसे

बाइनरी फ़ार्मूले के बदले उन्हें ज्यादा वास्तविकता से सामने ला रहे हैं । इक्कीसवीं सदी के सिनेमा ने मुख्यधारा और आर्ट सिनेमा के अंतर को धुंधला कर दिया है । इससे पूर्व पॉपुलर सिनेमा बनाने का मुख्य उद्देश्य ही होता था पैसा बनाना और समानान्तर सिनेमा सामाजिक मुद्दों और कलात्मकता पर ध्यान देता था। आज यह भेद मिटता सा दिख रहा है। 2000-2010 के बीच की कुछ फिल्में इस बात को और स्पष्ट करेंगीं। 'अस्तित्व', 'फिजा', 'बवंडर', 'हरी-भरी', 'क्या कहना' (2000); 'जुबैदा', 'दिल चाहता है', 'चाँदनी बार', 'लज्जा'(2001); 'फिलहाल', 'मकड़ी', 'मित्र माइ फ्रेंड', 'सुर' (2002); 'जौगेर्स पार्क', 'मातृभूमि' अ नेशन विदाउट वुमेन, 'पिंजर' (2003); 'खामोश पानी', 'स्वदेश', 'मीनाक्षी-अ टेल ऑफ श्री सिटीज', 'रेनकोट' (2004); 'ब्लैक', 'माइ ब्रदर निखिल', '15 पार्क एवेन्यू' (2005), 'डोर', 'प्यार के साइड इफैक्ट'(2006); 'आजा नच ले', 'चीनी कम' (2007), 'फैशन', 'विया दार्जिलिंग' (2008), 'लक बाइ चान्स', 'फिराक़', 'वेक अप सिड' (2009), 'बैंड बाजा बारात', 'जैपनीज वाइफ़', 'मिर्च'(2010)। कुल मिलाकर इक्कीसवीं सदी के पहले दशक की प्रयोगवादी फिल्मों और मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने उन नायिकाओं को जन्म दिया है जो हाड-मांस की बनी असली महिलायें लगती हैं । उनमें यथास्थिति से लड़ने का माद्दा भी दिखता है और धारा के विरुद्ध तैरने का साहस भी। लेकिन ये नायिकाएँ पितृसत्ता के सामने ज्यादा देर टिक नहीं पाती। फिर विरोध के स्वर का आगाज इन नायिकाओं के चरित्र में दिखाई देता है। इसे महिला केन्द्रित माने जाने वाली फिल्म 'लज्जा' के माध्यम से समझा जा सकता है।

'लज्जा' फिल्म की वैदेही(मनीषा कोइराला) अपने पति रघु(जैकी श्राफ) के की गलत हरकतों का विरोध करने की हिम्मत रखती है। लेकिन रघु द्वारा उसको थप्पड़ मारा जाता है। वह इक्कीसवीं सदी की पढ़ी लिखी नारी होने के कारण विरोध करने ही हिम्मत दिखाती है। वह घर छोड़ने जैसा बड़ा फैसला लेती है। 'लज्जा' फिल्म में वैदेही(मनीषा कोइराला) का पति रघु(जय किशन श्राफ) अपने बिजनेस पार्टनर की पत्नी को पार्टी में चूमता है, उसके साथ नाचता है। इस पर वैदेही को गुस्सा आता है। वैदेही के गुस्सा होने पर रघु कहता है –

"रघु- मैंने समझा तुम वक्त के साथ चलने वाली लड़कियों में से हो। हम इक्कीसवीं सदी में खड़े हैं। मैं तुम्हें अपने साथ आगे ले जाना चाहता हूँ, तुम पीछे घसीट रही हो मुझे। बदलती क्यों नहीं हो तुम।

वैदेही- मैं हर उस बदलाव के लिए तैयार हूँ जिससे हमारा रिश्ता मजबूत हो। लेकिन उस बदलाव के लिए नहीं, जिससे हमें एक दूसरे से आँख मिलाने में शर्म आए....

रघु- मैं तुमसे बहुत मोहब्बत करता हूँ, बहुत मोहब्बत। मगर उतना ही प्यार मुझे अपनी आजादी से है। I need space darling.....”(फिल्म- लज्जा(2000))

आधुनिक होने का मानदंड पराई स्त्रियों के साथ डांस करना और उन्हें चूमना मान लिया गया है। लेकिन आधुनिकता का यही मानदंड स्त्रियों के लिए पुरुषों को भी स्वीकार होगा? इसका जवाब नहीं में होगा। पुरुष स्त्रियों व खुद के लिए अच्छे या बुरे होने का मानदंड खुद निश्चित करता है। इसमें स्त्री की कोई भूमिका नहीं होती। रघु ने भी इक्कीसवीं सदी की नारी व पुरुष दोनों के लिए आधुनिकता का मानदंड स्वयं निश्चित कर लिया। और वह चाहता है कि वैदेही भी इन्हीं मानदंडों को स्वीकार करे। हालांकि फिल्म के अंत तक वैदेही अपने पति को बदले में सफल हो जाती है। लेकिन इस लंबी यात्रा में वह अनेक प्रकार के कष्टों से गुजरती है। घर छोड़ कर दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती है। इस दौरान उसे समाज के हर पहलू पर पुरुष शोषण की एक अलग तस्वीर नजर आती है। कहीं दहेज के कारण मैथिली(महिमा चौधरी) की शादी रुक जाती है तो कहीं पुरुष शक के कारण जानकी(माधुरी दीक्षित) को अपने गर्भ से हाथ धोना पड़ता है। दूसरी तरफ गाँव की दाई रामदुलारी(रेखा) को जमींदार गजेन्द्र(डैनी) जिंदा जला देता है। इक्कीसवीं सदी की वैदेही स्त्री शोषण के ये सारे पहलू अपनी आँखों से देखती है। और समझ जाती है कि पुरुष शोषण से पार पाना आसान नहीं है। वैदेही विरोध की ज्वाला अपने अंदर जलाए रखती है और अंत में सफल होती है। लेकिन वास्तविक जीवन में कितनी लड़कियाँ वैदेही जितना विरोध कर पाती हैं और पति को बदल पाने में सफल हो पाती हैं? यह एक बड़ा सवाल है वैदेही इक्कीसवीं सदी की काल्पनिक पात्र है, जो हमें हमारे समाज में कहीं देखने को नहीं मिलेगी। फिर भी विरोध करने की शुरुआत काबीले तारीफ कही जाएगी।

भारतीय दर्शक आज भी परम्पराओं में बदलाव के लिए तैयार नहीं है। वह आज भी फिल्म में अपनी परम्पराओं की स्थापना के साथ ही फिल्म का अंत देखना चाहता है। जहाँ परंपरा में बदलाव दिखाई दिया वहीं फिल्म असफल हो जाती है। अगर परंपरा में स्त्री ने थोड़ी सी छूट ले ली और आजादी के साथ जीवन जीने की कोशिश करती है या फिल्म में विवाह संस्था टूटती है तो दर्शक ऐसी फिल्म को सफल नहीं होने देता। इसके दो उदाहरण बहुत अच्छे हैं। फिल्म 'चीनी कम' में 34 वर्षीय नीना(तब्बू) और 64 वर्षीय बुद्धदेव गुप्ता के बीच प्रेम प्रसंग को दर्शकों ने स्वीकार किया क्योंकि दोनों ही

अविवाहित थे। यह फिल्म बॉक्स-ऑफिस पर सफल रही। वहीं दूसरी तरफ 'निशब्द' फिल्म असफल हो जाती है। फिल्म में ऋतु(शारदा आर्य) अपनी सहेली जिआ(जिआ खान) को लेकर घर आती है। वहाँ जिआ ऋतु के पिता विजय(अमिताभ बच्चन) से मिलती है। ऋतु की माँ अमृता(रेवती) होम-मेकर हैं। विजय 60 वर्ष से अधिक उम्र के हैं। जिआ और विजय के बीच अनुराग उत्पन्न होता है और ऋतु व अमृता को इस बात पता चलता है तो विजय के साथ उनके संबंध खराब हो जाते हैं। फिल्म के अंत में विजय आत्महत्या कर लेता है। यहाँ भी 'चीनी कम' फिल्म की तरह नायिका और नायक की उम्र के बीच का फर्क पिता और बेटी की उम्र का है। लेकिन यह फिल्म दर्शकों को पसंद नहीं आई। यह फिल्म बॉक्स-ऑफिस पर असफल रही। इसका महत्वपूर्ण कारण विवाह संस्था का टूटना था। यह फिल्म विवाह संस्था को तोड़ती है जबकि 'चीनी कम' विवाह संस्था को बनाती है।

### सारंश

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हिन्दी सिनेमा में नारी का चित्रण निश्चित फॉर्मूले पर आधारित है। नई सदी में उसमें परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं, लेकिन उसकी रफ्तार इतनी तेज नहीं है और अनुपात भी न्यून है। शायद पहले हमें समाज के रूप में जागरूक होना पड़ेगा तभी सिनेमा में उस परिवर्तन की गूँज सुनाई देगी।

### संदर्भ ग्रंथ

1. गीताश्री (स.), हिन्दी सिनेमा दुनिया से अलग दुनिया, शिल्पायन, दिल्ली, 2014, पृ.सं 121,
2. नंदकुमार सौम्य, The stereotypical portrayal of women in commercial Indian cinema, Master's Thesis, submitted to University of Houston, 2011, Page no 3,
3. गीताश्री (स.), हिन्दी सिनेमा दुनिया से अलग दुनिया, शिल्पायन, दिल्ली, 2014, पृ.सं 128-29,
4. Mulvey Lara, Visual and other pleasure, Newyork, Palgrave Publisher Ltd., 1989, page no-16&19
5. Tagore Sharmila, <http://www.lsamayantarl.com/women-of-reel-life-and-real-life-speech-of-sharmila-tagore/>